

जल्पकल्पतरु टीका के दार्शनिक प्रस्थानों का समन्वयात्मक अध्ययन (प्रपत्र भाग-१)

ओ. पी. उपाध्याय * ऋतु सोनी **

राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर, राजस्थान.

सारांश : आयुर्वेद वाङ्मय दार्शनिक प्रस्थानों का कोष है। वस्तुतः प्रत्येक विज्ञान का आरम्भ दर्शन से ही होता है और अवसान भी दार्शनिक भूमि में ही होता है। आयुर्वेद की अद्यावत् जो भी संहिताएं हैं, प्रायः सभी में चिकित्सापरक विवरण के साथ-साथ दार्शनिक तत्त्वों का भी निरूपण किया गया है, अतएव यह विचार बुद्धि में सहज ही उपस्थित होता है कि, क्या दर्शन तत्त्व का चिकित्सा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण अवदान है? अथवा, दार्शनिक प्रस्थानों का समावेश केवल वाचारम्भण मात्र है? यदि महत्त्व है, तो वह किस प्रकार है और युगानुरूप उसकी उपयोगिता किस प्रकार सिद्ध हो सकती है? चरक संहिता और सुश्रुत संहिता आयुर्वेद के आकर ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में अपने प्रतिपाद्य विषय के साथ-साथ दार्शनिक विषयों का भी समावेश है। इनमें भी चरक संहिता विशेषतः चिकित्सा प्रधान ग्रन्थ है। चिकित्सा का प्रधान ग्रन्थ होने के साथ-साथ यह दार्शनिक तत्त्वों का भी आकर ग्रन्थ है। वस्तुतः चरक संहिता का चिकित्सा प्रधान ग्रन्थ होना और इसी संहिता में दार्शनिक तत्त्वों का विशेष रूप से समावेश होना, स्वतः ही यह स्पष्ट करता है, कि चिकित्सा के क्षेत्र में दार्शनिक तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण अवदान है। आवश्यकता इसके युगानुरूप विवेचन एवं स्पष्टीकरण करने की है। चरक संहिता पर चक्रपाणिदत्त कृत संस्कृत व्याख्या 'आयुर्वेद दीपिका' प्रसिद्ध है। चक्रपाणि का काल लगभग १०७५ ई. माना जाता है। इस प्रकार प्रतिसंस्कर्ता चरक एवं चक्रपाणि के काल में लगभग १००० वर्षों का अन्तराल है। इसके पश्चात् १२वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक चरक संहिता पर कोई प्रामाणिक संस्कृत टीका नहीं प्राप्त होती है। पुनः १९वीं शताब्दी में कविराज गंगाधर रॉय की विद्वत्तापूर्ण टीका 'जल्पकल्पतरु' प्राप्त होती है। इस टीका में विशेषतः दार्शनिक विषयों पर गंभीर मीमांसा की गयी है। कविराज गंगाधर रॉय चरक संहिता के वर्तमान में अन्तिम संस्कृत टीकाकार हैं। आचार्य चक्रपाणि एवं कविराज गंगाधर रॉय के मध्य लगभग ८०० वर्षों का अन्तराल है। भाषा विज्ञान सम्मत कालकृत परिवर्तन के अनुसार एक हजार वर्षों में उस भाषा का लगभग चतुर्थांश भाग परिवर्तित हो जाता है। इस दृष्टि से आयुर्वेदीय संहिताएं वेदों के अंश हैं, अतः शब्दानुक्रमिक अन्तर सम्भव नहीं है, किन्तु कालिक क्रम से शब्दार्थक प्रयोग में वैभिद्य सुनिश्चित है। अतः आर्ष ग्रन्थों को भी युगानुरूप सन्दर्भों में देखने की आवश्यकता है। उपर्युक्त विवेचनानुसार चरक संहिता के काल से चक्रपाणि के काल तक, एवं चक्रपाणि के काल से कविराज गंगाधर रॉय के काल तक आते-आते दार्शनिक तत्त्वों के रूप में युगानुरूप जो परिवर्तन या विशेषताएं उपस्थित हुईं अथवा स्थानान्तरित हुईं, उनके अन्वेषण हेतु तथा पूर्वकालीन संहिताओं के दार्शनिक तत्त्वों से समन्वय एवं वैशिष्ट्य अन्वेषित करने हेतु इस विषय पर अध्येत्री ने अपने शोधकार्य में दार्शनिक प्रस्थानों की चिकित्सा के क्षेत्र में उपादेयता सिद्ध करते हुए प्रतिसंस्कर्ता की प्राथमिक भूमिका के रूप में तथ्यों का संकलन करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत प्रपत्र में षड्पदार्थान्तर्गत 'सामान्य-विशेष वाद' पर जल्पकल्पतरु टीका का वैशिष्ट्य प्रदर्शित किया गया है।

परिचय

आयुर्वेद का प्रयोजन 'स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च' स्थूल दृष्ट्या है, सूक्ष्म दृष्ट्या तो आयुर्वेद का प्रयोजन 'लोक पुरुष साम्य का प्रतिपादन' है। यह सारा लोक मुझमें और मैं सम्पूर्ण लोक में हूँ। 'मैं' अर्थात् 'आत्मा' ही सुख-दुःख का कर्ता है। 'आत्म ज्ञान' द्वारा ही दुःख से निवृत्ति होती है।

आयुर्वेद शास्त्र का उद्देश्य 'सत्याबुद्धि समुत्पत्ति' है। 'सत्याबुद्धि क्या है और किस प्रकार प्राप्त होती है, यह ज्ञान प्रदान करना आयुर्वेद का अलक्ष्य उद्देश्य है।

यह भौतिक जगत दुःखमय है। जिसे साधारण दृष्टि से सुख समझा जाता है। उसके परिणाम में भी दुःख ही है। महाकवि

कालिदास ने सांसारिक सुख में दुःख के सम्पर्क का बहुत ही स्पष्ट वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है।

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा विलशनाति लब्ध-परिपालनवृत्तिरेव ।

नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय राज्यं स्वहस्त-धृतदण्डमिवातपत्रम् ॥

अ. शा. ५/७

भारतीय दार्शनिक-परम्परा में इस जगत् की दुःखमयता का स्पष्ट वर्णन है। भगवान् बुद्ध ने भी अपने चार आर्यसत्त्वों में 'सर्व दुःख दुःखम्' को अन्यतम् माना है।

श्री कृष्ण ने गीता में कहा है :- 'दुःखालयमशाश्वतम्'

अर्थात् यह संसार दुःखों का घर तथा नाशवान है।

दुःख निवृत्ति का सबसे प्रधान कारण या उपाय है, 'आत्म-प्राप्ति' एवं 'आत्म ज्ञान'। यद्यपि आत्मा कोई प्राप्य पदार्थ नहीं

* विभागाध्यक्ष, मौलिक सिद्धांत एवं संहिता।

** पीएच. डी. शोधछात्रा, मौलिक सिद्धांत एवं संहिता विभाग।

Email : drritusoni@yahoo.com

है, प्रत्युत पूर्व प्राप्त ही है, तथापि अज्ञान पूर्वक उसकी प्राप्ति ही विवक्षित है। अतएव, दुःख के आत्यन्तिक एवं एकान्तिक उच्छेद के लिये आत्मज्ञान सर्वोच्च साधन है। नित्य विभु आत्मतत्त्व का ज्ञान ही दर्शन है।

‘दृश्यते अनेन इति दर्शनम्’

अर्थात् जिससे सत्य तत्त्व का दर्शन होता है, वही दर्शन है।

‘सा विद्या या विमुक्तये’

अर्थात् विद्या वही है, जो मुक्ति या मोक्ष की प्राप्ति कराये तथा बन्धनों से मुक्त कर परम शान्ति, सत्य तत्त्व की उपलब्धि कराये।

दुःखों को बन्धन और उनकी निवृत्ति को दार्शनिक भाषा में मोक्ष कहा जाता है। यही मोक्ष भारतीय दर्शन का मुख्य लक्ष्य रहा है।

वैशेषिक दर्शन :

वैशेषिक दर्शन ने परमेश्वर के साक्षात्कार को दुःख की निवृत्ति का उपाय बताया है। परमेश्वर का साक्षात्कार श्रवण (शास्त्र का), मनन (चिन्तन) तथा भावना (ध्यान) के द्वारा पाया जा सकता है।¹ आगम से, अनुमान से तथा ध्यानाभ्यास के बल से; इस प्रकार तीन तरह से अपनी बुद्धि को परमेश्वर में लगा कर साधक उत्तम योग को प्राप्त करता है।

- 1 **श्रवण/आगम** - आगम और श्रवण समानार्थक है। गुरु के उपदेश से परमेश्वर के स्वरूप तथा उसके गुणों के विषय में श्रवण करना परमेश्वर ज्ञान का प्रथम सोपान है।
- 2 **मनन / अनुमान** - उपदेश को श्रवण करने के बाद उनमें बुद्धि को स्थिर करने हेतु युक्ति पूर्वक चिन्तन करना ही मनन कहलाता है। मनन अनुमान के आधीन ही है और अनुमान व्याप्ति ज्ञान के आधीन होता है। व्याप्ति ज्ञान भी पदार्थों की विवेचना की अपेक्षा रखता है, इसलिये छः पदार्थों की विवेचना भगवान् कणाद ने वैशेषिक दर्शन में की है।

‘जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है। इस धर्म विशेष को उत्पन्न करने के कारण द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य ज्ञान रूपी तत्त्व ज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है’²। इस प्रकार ‘षड् पदार्थों के ज्ञान से दुःख का आत्यन्तिक नाश होकर मोक्ष प्राप्ति होती है’ इस तथ्य का विवेचन वैशेषिक दर्शन करता है।

न्याय दर्शन :

न्याय दर्शन में भी कहा गया है, कि तत्त्व ज्ञान हो जाने पर वह निःश्रेयस प्राप्त होता है, जिसमें दुःख का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है। न्याय दर्शन में सोलह पदार्थों के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति बताई गई है। ये पदार्थ गौतमीय न्याय सूत्र के प्रथम सूत्र में ही वर्णित हैं।³ उत्तरकालीन नैयायिकों ने ‘अभाव’ को मिलाकर सात पदार्थ माने हैं। न्याय दर्शनोक्त सोलह पदार्थों का इन्ही सातों पदार्थों के अन्तर्गत अन्तर्भाव हो जाता है, ऐसा तर्कसंग्रहकार अन्नभट्ट का कथन है।

आयुर्वेद ६ पदार्थ के अतिरिक्त ‘अभाव’ नामक सप्तम

पदार्थ को नहीं मानता।

सांख्य दर्शन :

सांख्य दर्शन में चार प्रकार के पदार्थ कहे गये हैं, कुछ पदार्थ केवल प्रकृति हैं, कुछ प्रकृति एवं विकृति दोनों हैं, कुछ केवल विकृति ही हैं और कुछ पदार्थ दोनों में से कुछ भी नहीं (पुरुष)।

प्रकृति का अर्थ है ‘प्रधान’ के नाम से पुकारी जाने वाली मूल प्रकृति। यह किसी भी दूसरे पदार्थ की विकृति नहीं है⁴। जो प्रकृष्ट रूप से (तत्त्वों का उत्पादन करते हुए) कार्य करे वही प्रकृति है। इस प्रकार की व्युत्पत्ति से सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था का बोध होता है। महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्र- ये ऐसे तत्त्व हैं, जो विकृति (मूल प्रकृति के विकार) और प्रकृति (दूसरे तत्त्वों के उत्पादक) भी हैं। केवल विकृति के रूप में विद्यमान तत्त्वों में आकाश आदि पाँच महाभूत तथा ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। पुरुष दोनों में कुछ भी नहीं है। कहा भी है - ‘पुरुष न तो प्रकृति ही है और न विकृति ही’।⁵ सभी मनुष्यों में जो चेतन तत्त्व है वही पुरुष है। प्रकृति के साथ संयुक्त होने के कारण यह बंधन में पड़ा रहता है, जिस समय प्रकृति और पुरुष का विवेक हो जाता है, उसी समय मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार सांख्य दर्शन इन पच्चीस तत्त्वों के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन करता है।

पातञ्जल दर्शन :

पातञ्जल दर्शन ‘जन्मौषधिमंत्रतपः समाधिजाः सिद्धयः’ इत्यादि सूत्रों के द्वारा पाँच प्रकार की सिद्धियों का विस्तार करते हुए परम लक्ष्य कैवल्य का निर्देश करता है।⁶ पातञ्जलि के अनुसार अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) से योग की प्राप्ति होती है, तब प्रकृति-पुरुष का भेद साक्षात्कार के रूप में मिलता है। पुरुष का ज्ञान हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है- मोक्ष का अर्थ है, दुःख का आत्यन्तिक विनाश। उपर्युक्त निरूपण पातञ्जल दर्शन के चतुर्थ पाद में हुआ है।

मीमांसा दर्शन :

मीमांसा दर्शन पुरुष को बंधन में लाने का कारण तीन प्रकार के प्रपञ्च को मानता है-भोगायतन (शरीर), भोगसाधन (इन्द्रियाँ) और भोग्य (रूप, रस, गंध, शब्द आदि)। प्रपञ्च का विलय ही मोक्ष माना गया है। शरीर को ही आत्मा मान कर मनुष्य राग-द्वेष से आबद्ध हो कर भवबंधन में पड़ा रहता है, इसलिये मधुसूदन ने मोक्ष का वर्णन करते हुए कहा है - ‘आत्म ज्ञान पूर्वक वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से धर्माधर्म के विनाश के लिये देह, इन्द्रिय आदि का आत्यन्तिक निराकरण ही मोक्ष है।’

इस प्रकार सिद्ध है कि सभी दर्शन ‘तत्त्व ज्ञान’ को ही मोक्ष की प्राप्ति एवं दुःख के आत्यन्तिक विनाश का साधन मानते हैं।

संसार दुःखों का घर है। मनुष्य संसार में सुखों की प्राप्ति के लिये भटकता फिरता है, लेकिन उसे वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती है। अतः महर्षियों एवं ज्ञानी जनों ने वास्तविक सुख का मार्ग मोक्ष रूपी परमानन्द की प्राप्ति को बताया है। इसके लिये चार पुरुषार्थ बताये गये हैं - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, लेकिन रोग पुरुषार्थ की प्राप्ति में महाविघ्न हैं, अतः स्वास्थ्य रक्षा हेतु एवं रोग प्रशमनार्थ

आयुर्वेद शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत हुई और एक स्वतन्त्र मूल (चेतना या आत्मा अर्थात् निज स्वरूप की प्राप्ति) को लक्ष्य करके इस शास्त्र की रचना हुई। इसी कारण इसके अपने सिद्धान्त भी रोग की चिकित्सा एवं स्वास्थ्य संरक्षण को दृष्टिगत रखते हुए अन्य दर्शनों से भिन्न हैं। आयुर्वेद के सिद्धान्तों के पालन से ही मनुष्य उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति कर परमानन्द में विलीन हो जाता है। अतः आयुर्वेद ऐहिक लोक में सुखों का मार्ग प्रशस्त कर, पारलौकिक सुख का भी दाता है और अंत में 'निज स्वरूप आत्मा' का भी दर्शन कराता है। अत एव आयुर्वेद को दर्शन कहना उचित ही है। आयुर्वेद एक स्वतन्त्र मौलिक दर्शन है। आयुर्वेद का मुख्य उपपाद्य विषय चिकित्सा है। स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा आतुर के विकार या रोग को दूर करना ही आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन है। आयुर्वेद के उपर्युक्त दोनों प्रयोजनों की सिद्धि के लिये तीन सिद्धान्त बताये गये हैं -

- १ समाः पालयितव्याः ।
- २ क्षीणाः वर्धयितव्याः ।
- ३ वृद्धाः ह्रासयितव्याः ।

इनका व्यावहारिक रूप से पालन तभी हो सकता है, जब सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म तथा समवाय इन छः पदार्थों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो ।

उद्देश्य :

'सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते।' (च.सू. ३०/२७)

अर्थात् आयुर्वेद शाश्वत और अनादि है। यह वेदों से प्रस्फुटित हुआ ज्ञान का वह पुंज है, जो मानव जीवन के दैहिक, मानसिक एवं आत्मिक, सभी पक्षों को प्रकाशित करता है। जिस समय विश्व की समस्त सभ्यताएं शैशवावस्था में थीं, उस समय भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति ज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर आसीन थी। वेद इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। विश्व में इनसे प्राचीन कोई साहित्य नहीं है।

आयुर्वेद वाङ्मय दार्शनिक प्रस्थानों का कोश है। वस्तुतः प्रत्येक विज्ञान का आरम्भ दर्शन से ही होता है और अवसान भी दार्शनिक भूमि में ही होता है। इस दृष्टि से दर्शन की सामान्य परिभाषा- 'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्', अर्थात् 'जिससे दिखाई देता है, वह दर्शन है', की गयी है, किन्तु आयुर्वेद ऐसा दार्शनिक महाप्रस्थान है, जिससे अनारोग्यादि अवस्थाएं दिखायी भी देती हैं और जो स्वयं मात्र, अनुमेय या शाब्दी ज्ञान का ही आधार न होकर प्रत्यक्षपरक भी है।

'दृश्यते यत् तदपि दर्शनम्' यह व्याख्या आयुर्वेद के दर्शनत्व दृष्ट्या संगत सिद्ध होती है।

आयुर्वेद की अद्यावत् जो भी संहिताएं हैं, प्रायः सभी में चिकित्सापरक विवरण के साथ-साथ दार्शनिक तत्त्वों का भी निरूपण किया गया है, अत एव यह विचार बुद्धि में सहज ही उपस्थित होता है कि, क्या दर्शन तत्त्व का चिकित्सा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण अवदान है? अथवा, दार्शनिक प्रस्थानों का समावेश केवल वाचारम्भण मात्र है? यदि महत्त्व है, तो वह किस प्रकार है और युगानुरूप उसकी उपयोगिता किस प्रकार सिद्ध हो सकती है?

चरक संहिता और सुश्रुत संहिता आयुर्वेद के आकर ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में अपने प्रतिपाद्य विषय के साथ-साथ दार्शनिक विषयों का

भी समावेश है। इनमें भी चरक संहिता विशेषतः चिकित्सा प्रधान ग्रन्थ है। चिकित्सा का प्रधान ग्रन्थ होने के साथ-साथ यह दार्शनिक तत्त्वों का भी आकर ग्रन्थ है। वस्तुतः चरक संहिता का चिकित्सा प्रधान ग्रन्थ होना और इसी संहिता में दार्शनिक तत्त्वों का विशेष रूप से समावेश होना, स्वतः ही यह स्पष्ट करता है, कि चिकित्सा के क्षेत्र में दार्शनिक तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण अवदान है। आवश्यकता इसके युगानुरूप विवेचन एवं स्पष्टीकरण करने की है।

चरक संहिता का काल दो प्रकार से माना गया है। जो विद्वान् पतञ्जलि को अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कर्ता मानते हैं, उनके मत से इस तन्त्र का प्रतिसंस्कार २१०० वर्ष पूर्व हुआ था, और जो विद्वान् कनिष्क के राजवैद्य चरक को अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कर्ता मानते हैं, उनके मत से १८५० वर्ष पूर्व अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कार हुआ था, जो वर्तमान में चरक संहिता के नाम से ख्यात है।

इस संहिता में जिस प्रकार न्याय, वैशेषिकादि षट् आस्तिक दर्शनों के प्रस्थानों का समावेश है, उसी प्रकार नास्तिक विचारधाराओं का भी बहूत्र पूर्वपक्ष के रूप में सन्निवेश हुआ है।

चरक संहिता पर चक्रपाणिदत्त कृत संस्कृत व्याख्या 'आयुर्वेद दीपिका' प्रसिद्ध है। चक्रपाणि का काल लगभग १०७५ ई. माना जाता है। इस प्रकार प्रतिसंस्कर्ता चरक एवं चक्रपाणि के काल में लगभग १००० वर्षों का अन्तराल है। इसके पश्चात् १२वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक चरक संहिता पर कोई प्रामाणिक संस्कृत टीका नहीं प्राप्त होती है। पुनः १९वीं शताब्दी में कविराज गंगाधर रॉय की विद्वत्तापूर्ण टीका 'जल्पकल्पतरु' प्राप्त होती है। इस टीका में विशेषतः दार्शनिक विषयों पर गंभीर मीमांसा की गयी है। कविराज गंगाधर रॉय चरक संहिता के वर्तमान में अन्तिम संस्कृत टीकाकार हैं। आचार्य चक्रपाणि एवं कविराज गंगाधर रॉय के मध्य लगभग ८०० वर्षों का अन्तराल है।

भाषा विज्ञान सम्मत कालकृत परिवर्तन के अनुसार एक हजार वर्षों में उस भाषा का लगभग चतुर्थांश भाग परिवर्तित हो जाता है। इस दृष्टि से आयुर्वेदीय संहिताएं वेदों के अंश हैं, अतः शब्दानुक्रमिक अन्तर सम्भव नहीं है, किन्तु कालिक क्रम से शब्दार्थक प्रयोग में वैभिद्य सुनिश्चित है। अतः आर्ष ग्रन्थों को भी युगानुरूप सन्दर्भों में देखने की आवश्यकता है।

इस प्रकार वैज्ञानिक सन्दर्भ में इतने लम्बे अन्तराल में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। यहां अध्येत्री का यह मन्तव्य नहीं है, कि वेद (आयुर्वेद) के अपौरुषेयत्व पर सन्देह किया जाये, अपितु मानव की अल्पायुष्य एवं क्रमशः ह्रास को प्राप्त हुई बुद्धि विशदता को अंगीकार कर तदनु रूप शास्त्र का परिवर्धन एवं अनुवर्तन अपेक्षित है।

उपर्युक्त विवेचनानुसार चरक संहिता के काल से चक्रपाणि के काल तक, एवं चक्रपाणि के काल से कविराज गंगाधर रॉय के काल तक आते-आते दार्शनिक तत्त्वों के रूप में युगानुरूप जो परिवर्तन या विशेषताएं उपस्थित हुई अथवा स्थानान्तरित हुई, उनके अन्वेषण हेतु तथा पूर्वकालीन संहिताओं के दार्शनिक तत्त्वों से समन्वय एवं वैशिष्ट्य अन्वेषित करने हेतु 'जल्पकल्पतरु टीका के दार्शनिक प्रस्थानों का समन्वयात्मक अध्ययन' विषय पर अध्येत्री ने अपने शोधकार्य में दार्शनिक प्रस्थानों की चिकित्सा के क्षेत्र में उपादेयता सिद्ध करते हुए प्रतिसंस्कर्ता की प्राथमिक भूमिका के रूप में तथ्यों का संकलन

करने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत प्रपत्र में षड्पदार्थान्तर्गत 'सामान्य-विशेष वाद' पर जल्पकल्पतरु टीका का वैशिष्ट्य प्रदर्शित किया गया है।

सामान्य-विशेष वाद :

विघ्नीभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम् ।

तपोपवासाध्ययनब्रह्मचर्यव्रतायुषाम् ।

तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः ।

समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वं हिमवतः शुभे ॥⁹

प्राणियों में दुःख स्वरूप रोगों के उत्पन्न हो जाने पर उनकी शान्ति का उपाय खोजने के लिये महर्षियों ने एक सभा की और महर्षि भरद्वाज को भगवान् इन्द्र के पास जा कर आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिये नियुक्त किया। महर्षि भरद्वाज ने आयुर्वेद शास्त्र का ज्ञान और अनुष्ठान कर सुख युक्त अमित आयु को प्राप्त किया और आयुर्वेद का उपदेश अन्य ऋषियों को दिया। आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर उन महर्षियों ने ज्ञान चक्षु से सामान्य, विशेष, समवाय, गुण, द्रव्य और कर्म इन छः पदार्थों को देखा और उनका ज्ञान प्राप्त कर तन्त्रोक्त विधि में अपनी आस्था को दृढ़ किया। इस प्रकार वे परम शान्ति और नित्य आयु को प्राप्त किये।

ज्ञान चक्षु का अर्थ स्पष्ट करते हुये आचार्य चक्रपाणि ने ज्ञानार्थ अथवा ज्ञानरूप चक्षु जिसके पास है उन्हें ज्ञानचक्षु कहा है जबकि आचार्य गंगाधर इसे और अधिक स्पष्ट करते हुये कहते हैं, कि 'निश्चयात्मक ज्ञान रूपी चक्षु ही ज्ञान चक्षु है'¹⁰ अर्थात्, जिसमें सन्देह नहीं है, ऐसे निर्मल ज्ञानरूपी चक्षुओं से महर्षियों ने षड् पदार्थों का ज्ञान प्राप्त किया और इस ज्ञान से परम शान्ति को प्राप्त हुए।

इस प्रकार 'षड् पदार्थ' ज्ञान से दुःख की आत्यन्तिक एवं एकात्मिक निवृत्ति का वर्णन आयुर्वेद में प्राप्त होता है।

आचार्य गंगाधर राय ने तत्त्वज्ञान से 'अपवर्ग' की प्राप्ति किस क्रम से होती है? इसका विस्तृत विवेचन अग्रलिखित प्रकार से किया है।

बन्धो हि पुरुषस्य यदा स्थूलरूपेणारम्भो भवति, द्रव्यादिभिस्त्रिभिः समवेतैः तेषां तत्त्वज्ञानात् तदारब्धपुरुषस्य मिथ्याज्ञानापायो भवति, मिथ्याज्ञानापायादोषापायो, दोषापायात् प्रवृत्त्यपायः प्रवृत्त्यपायाज्जन्मापायो, जन्मपायाद् दुःखापायो, दुःखापाये विद्योदयः; स च ज्ञान प्रकाशः। तस्मादपवर्गो भवतीति पुरुष एकाधिकरणस्य शास्त्रस्योति ज्ञापितम् ।¹⁰

'स्थूल रूप से जिस प्रकार द्रव्यादि तीन पदार्थों के संयोग से पुरुष का बन्धन प्रारम्भ होता है, उन्ही पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से उनसे बंधे हुए पुरुष के मिथ्या ज्ञान का नाश होता है, मिथ्याज्ञान के नाश से दोष का नाश, दोष के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश, जन्म के नाश से दुःख का नाश, दुःख के नाश से विद्या का उदय होता है और ज्ञान का प्रकाश होता है, तब उस पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।'

अंगिरा आदि ऋषियों ने ज्ञान चक्षु से जिन छः पदार्थों का

दर्शन किया था, उनमें 'सामान्य' एवं 'विशेष' पदार्थ का सर्वप्रथम वर्णन है। आचार्य गंगाधर सामान्य और विशेष के प्रथम उपदेश का कारण स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि आयुर्वेद शास्त्र के दो प्रयोजन हैं;

१ धातु साम्य का रक्षण करना,

२ विषम हुई धातुओं में धातु साम्य स्थापित करना।

उक्त दोनों प्रयोजनों की सिद्धि सामान्य और विशेष के प्रयोग द्वारा ही हो सकती है, अत एव आयुर्वेद में सामान्य और विशेष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होने से सर्वप्रथम वर्णित है।

आयुर्वेद में रोगोत्पत्ति का कारण दोष, धातु एवं मलों की वृद्धि अथवा ह्रास रूप विषमता को कहा गया है, अत एव वृद्धि को प्राप्त हुए दोषादि के ह्रास हेतु विशेष द्रव्य, गुण एवं कर्म तथा आस को प्राप्त हुये दोषादि की वृद्धि हेतु सामान्य द्रव्य, गुण तथा कर्म के द्वारा साम्यावस्था को स्थापित कर चिकित्सा की जाती है। इस प्रकार आचार्य चरक ने दार्शनिक सिद्धान्तों को चिकित्सा हेतु प्रयोग कर उनकी उपादेयता का वैज्ञानिक दिग्दर्शन कराया है।

आचार्य गंगाधर राय 'सर्वदा सर्वभावानाम्' की व्याख्या करते हुए 'भाव' शब्द की निरुक्ति निम्नलिखित रूप में बताते हैं;

'असु भुवि' 'भू सत्तायामित्यस्तेर्भवतेर्वा रूपं भावो भवनं सत्ता'

इस प्रकार 'भाव' शब्द यहां 'सत्ता' अर्थ में कहा गया है।

'सदिति यतः सा सत्ता द्रव्यगुणकर्मसु' अर्थात् 'जिससे यह है, वह सत्ता है', जो कि द्रव्य, गुण और कर्म में होती है। भावार्थ यह है, कि द्रव्य, गुण और कर्म की जिससे स्थिति है, जिससे द्रव्य, द्रव्य है, जिससे गुण, गुण है, जिससे कर्म, कर्म है, जिसके द्वारा द्रव्य, गुण और कर्म सत् है, वह सत्ता है।

द्रव्यगुणकर्मणां यावत् सत्ता तावदुत्पत्तेरुत्तरकालं वृत्तिः स्थितिः सत्ताया असद्भावविनाशः ।

वैशेषिक दर्शन के ही आधार पर 'सत्ता' को और अधिक स्पष्ट करते हुए गंगाधर कहते हैं, कि यह सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न है। इसे सिद्ध करने हेतु वे बताते हैं, कि चूंकि गुण में गुण और कर्म में कर्म नहीं रहता है, अतः सत्ता गुण और कर्म नहीं हो सकती, अतः सत्ता गुण कर्म से भिन्न है, तथापि सत्ता गुण और कर्म में रहती है। इसके साथ ही इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, कि गुण और कर्म सामान्य-विशेष से युक्त होते हैं, परन्तु सत्ता में सामान्य-विशेष का अभाव होता है, इससे भी सिद्ध होता है कि गुण और कर्म सत्ता से भिन्न हैं।

द्रव्य भी सत्ता नहीं है, क्योंकि द्रव्य भी सामान्य-विशेष युक्त होता है, परन्तु सत्ता सामान्य विशेष रहित होती है, अतः द्रव्य सत्ता नहीं है। द्रव्य से सत्ता भिन्न है।

अतएव, द्रव्य, गुण और कर्म की सत्ता होती है, परन्तु द्रव्य गुण और कर्म ही सत्ता है, यह कहना गलत है। उपर्युक्त वर्णन से सम्बन्धित वैशेषिक दर्शन के सूत्र निम्नलिखित हैं ।¹¹

१ सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ।

२ द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ।

३ गुणकर्मसु भावान्न कर्म न गुणः ।

४ सामान्य विशेषाभावेन च ॥

द्रव्य, गुण और कर्म में 'सत्ता' को सिद्ध करने के पश्चात् आचार्य गंगाधर समवाय में 'सत्ता' को सिद्ध करते हुए कहते हैं - 'अनुमान ३ प्रकार का होता है-

१ पूर्ववत्

२ शेषवत्

३ सामान्यतोदृष्ट

कार्य से कारण का अनुमान करना शेषवत् अनुमान है, अथवा जो परिशेष रहता है (कार्य), उससे कारण का अनुमान शेषवत् अनुमान का क्षेत्र है। यहां द्रव्य, गुण और कर्म में सत्ता की सिद्धि करने के पश्चात् जो शेष रहता है वह 'समवाय' है। इसमें सत्ता की सिद्धि शेषवत् अनुमान से होती है।^{१३} शेषवत् अनुमान, कार्य से कारण के अनुमान को कहते हैं। जो वर्तमान समय में कार्य है वह 'कार्य' भी किन्ही विशेष परिस्थितियों में किसी अन्य 'कार्य' की उत्पत्ति में 'कारण' हो सकता है, जैसे बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है। यहां 'बीज' कारण और 'वृक्ष' कार्य है। वृक्ष फल को उत्पन्न करता है, यहां 'वृक्ष' जो 'बीज' का कार्य था, फल के लिये 'कारण' है, अतः जब वृक्ष से फल का अनुमान करेंगे तो पुनः पूर्ववत् अनुमान का क्षेत्र हो जायेगा, शेषवत् अनुमान का नहीं।

अतः 'शेषवत् अनुमान' के लिये आचार्य गंगाधर राय कहते हैं :-

'तत्र शेषः परिशेषः कारणप्रदर्शनेनानुपपत्ति वचनेन यत् प्रतिषेधादप्रतिषिद्धं यत् परिशिष्यते तत्पारिशेष्यादनुमीयते। तच्च शेषवदनुमानम् ।'

अर्थात् कारण के प्रदर्शन को नहीं बताने से जो प्रतिषेध से अप्रतिषिद्ध होने से शेष रह जाता है, उसे शेष रहने के कारण शेषवत् अनुमान से जाना जाता है। भाव यह है, कि उपर्युक्त उदाहरण में, 'वृक्ष' जो बीज रूपी कारण का कार्य है, 'वृक्ष' से 'बीज' का अनुमान, शेषवत् अनुमान होता है, परन्तु तभी, जब कि हम 'वृक्ष' से फल की उत्पत्ति रूपी वचन को नहीं कहें और इस प्रकार के प्रतिषेध से अप्रतिषिद्ध होने से वह शेष रहे।

यहां पर द्रव्य, गुण और कर्म में सत्तात्व की स्थापना के बाद समवाय शेष रहता है, और समवाय में सत्तात्व का प्रतिषेध भी नहीं किया गया है, अतः समवाय में सत्ता का अनुमान कर लिया जाता है। इस प्रकार समवाय निश्चित ही सत् है और यह द्रव्य गुण और कर्म में रहता है। यहां यह स्पष्ट है, कि द्रव्य, गुण और कर्म की सत्ता स्वतन्त्र है, जबकि समवाय में सत्ता होते हुए भी वह सत्ता परतन्त्र है क्योंकि समवाय नित्य सम्बन्ध है और वह द्रव्य के साथ गुण और कर्म का होता है।

जब तक समवायि कारणों जैसे द्रव्य में समवाय रहता है, तब तक ही द्रव्य सत् है, गुण सत् है, कर्म सत् है ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि द्रव्य, गुण और कर्म का समवायि कारण है। द्रव्य में गुण

और कर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, इसलिये यदि समवाय सम्बन्ध ही न हो तो द्रव्य, गुण अथवा कर्म सत्तावान नहीं हो सकते। समवाय ही द्रव्य, गुण और कर्म की अनुवृत्ति (यह द्रव्य है, यह द्रव्य है, आदि) का हेतु है। समवाय का अभाव होने पर द्रव्य, गुण और कर्म की सत्ता सम्भव नहीं हो सकती।^{१३}

समवायी कारण, जैसे द्रव्य में समवाय का अभाव होने पर पृथक्त्व और संयोग का नाश हो जायेगा और द्रव्य की सत्ता भी संभव नहीं हो सकेगी। उक्त तथ्य का विशिष्ट रूप से विवेचन करते हुए आचार्य गंगाधर प्रश्न उपस्थित करते हुए कहते हैं, कि समवाय है, तो क्या वह सत्तावान है? समवाय स्वरूपतः सत्तावान नहीं है और उसमें अन्य सत्ता का अभाव भी है।^{१४} वास्तव में समवाय की उपस्थिति से ही द्रव्य, गुण और कर्म में समवाय है, ऐसा नहीं है, क्योंकि द्रव्य, गुण और कर्म में समवाय की स्वरूपतः ही वृत्ति अर्थात् स्थिति है।

समवाय के सत्तात्व की स्थापना करने के पश्चात् आचार्य समवाय के भेद बताते हुए कहते हैं कि समवाय दो प्रकार का होता है।^{१५}

१ नित्य

२ अनित्य

नित्य समवाय :

द्रव्यों का गुण के साथ योग नित्य समवाय होता है।^{१६} निर्गुण द्रव्य होता ही नहीं है, क्योंकि सगुण द्रव्य की ही उत्पत्ति होती है, निर्गुण द्रव्य की नहीं।

'नित्यत्व' का और अधिक विस्तृत विवेचन करते हुए आचार्य कहते हैं कि लोक में तीन प्रकार का नित्य व्यवहृत होता है^{१७} -

१ वह नित्य जो प्राकृत प्रलय पर्यन्त रहता है और प्राकृत प्रलय के उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है, जैसे चतुर्विंशति तत्त्व, अव्यक्त रूप आत्मा आदि में 'समवायी कारण' रूप समवाय प्राकृत प्रलय पर्यन्त रहता है और प्राकृत प्रलय होने पर, अव्यक्त आत्मादि, चतुर्विंशति तत्त्व के नष्ट हो जाने से, नष्ट हो जाता है। इस प्रकार लोक में अव्यक्त आदि और पृथ्वी पर्यन्त जो चतुर्विंशति तत्त्व युक्त देव, नर आदि चराचर वस्तुएँ हैं, वे सत्य और अनित्य होते हुए भी वस्तुतः उसी तरह से अनृत (असत्य) और अनित्य होते हैं, जैसे स्वप्न के विषय प्रमेय होने से और प्रमाण द्वारा सिद्ध होने से अभिमान्य होते हैं। यह मिथ्यात्व दो प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार का वह है, जो लोक में सत्य होते हुए भी वस्तुतः मिथ्यात्व होता है, जैसे स्थाणु। द्वितीय प्रकार का मिथ्यात्व वह है, जो लोक में मिथ्यात्व ही होता है, जैसे स्थाणु में पुरुष की सत्ता। इसे ही गौतम के न्याय शासन में जो कि तैत्तिरीयोपनिषद् मूलक है, 'स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः' कहा गया है।

२ द्वितीय प्रकार के नित्यत्व का वर्णन करते हुए आचार्य बताते हैं, कि अव्यक्त जो प्रधान है, क्षेत्रज्ञाधिष्ठत है, त्रिगुणात्मक है, कालानुप्रविष्ट होने पर उस अव्यक्त के तीनों गुणों का पृथक्-पृथक् प्राकृत प्रलय हो जाने पर अर्थात् प्रकृति में स्थित हो जाने से प्रधान पुरुष का भी प्रलय हो जाता है। इस प्रकार प्राकृत प्रलय हो जाने से पृथक्-पृथक् रूप में व्यवस्थित पुरुष को प्रधान,

क्षेत्रज्ञ, काल, चतुर्वेद, परमात्म, शिव-गायत्री अवशेष, सदाशिव कहा गया है और यह वस्तुतः सत्य रूप में निर्वाण रूप प्रलय पर्यन्त स्थित रहने से मध्यम नित्य कहलाता है। यह परमव्योम, परमात्म, शिवादि रूप सत्, निर्वाण रूपी प्रलय के समय नष्ट हो जाता है।

- ३ इस सर्ग की अवस्था में भी जो सत्य रूप, ब्रह्म शक्ति रूप, ब्रह्मा अवशेष, नष्ट नहीं होता अर्थात् महानिर्वाण पर्यन्त स्थायी होता है, वह परम नित्य कहलाता है। महानिर्वाण रूपी सर्गावस्था के उत्पन्न होने पर जो शिवगायत्री रूप शक्ति, क्रिया गुण व्यपदेश रहित और स्वगुण निगूढ होकर स्थित रहती है, वह शक्ति ब्रह्म है, और वह सर्ग एवं प्रलय दोनों अवस्थाओं में नित्य रहती है और इसे 'असद्भूत वस्तु' कहा जाता है। यह तृतीय प्रकार का नित्य है। इस प्रकार नित्य समवाय में ३ प्रकार के नित्यत्व का वर्णन किया गया है।

अनित्य समवाय :

जो कार्य रूप द्रव्य, गुण और कर्म हैं, उनमें अनित्य समवाय रहता है।¹⁶ इनमें जो समवायात्मिका सत्ता समान प्रसवात्मिका होती है, जैसे यह गौ है, यह गौ है, इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न करने वाली सत्ता, जाति रूप सामान्य कहलाती है। असमान प्रसवात्मिका सत्ता, जैसे यह गौ है, यह पत्र है, इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न करने वाली सत्ता, जन्म रूप विशेष कहलाती है। इसलिये कहा गया है कि '**जातिः सामान्यजन्मनोरिति**'। सामान्य और विशेष बुद्ध्यपेक्ष्य होते हैं अर्थात् यह इससे सामान्य और इससे विशेष है, इस तरह का ज्ञान, बुद्धि सापेक्ष होता है।¹⁷

अन्यत्र 'अन्त्य विशेष' का वर्णन भी किया गया है। जो सबसे अन्तिम होने से निश्चित ही विशेष होता है जैसे, नित्य द्रव्य पृथ्वी आदि का अन्तिम परमाणु वह अन्त्य विशेष होता है, जिसकी अपेक्षा सामान्य को होती है।

आचार्य गंगाधर लोक में चार ही पदार्थों को स्वीकार करते हैं - द्रव्य, गुण, कर्म और समवाय। उनके मतानुसार लोक में इनके अतिरिक्त पदार्थ नहीं है।¹⁸

आचार्य गंगाधर सामान्य एवं विशेष की चिकित्सा में उपयोगिता बताते हुए कहते हैं, कि आयुर्वेद में भावों की वृद्धि और ह्रास में कारण होने से, द्रव्यादि चार भावों में अन्तर्भावित होते हुए भी सामान्य एवं विशेष का पृथक् रूप से विवेचन किया गया है। यह उसी प्रकार समझना चाहिये जैसे वैशेषिक दर्शन में भी सामान्य और विशेष का अन्तर्भाव द्रव्य, गुण, कर्म और समवाय, इन चार भावों में होते हुए भी इनका पृथक् रूप से वर्णन किया गया है। इसी कारण इस शास्त्र का नाम वैशेषिक दर्शन हुआ है। अर्थात् विशेष का उपदेश करने से इस शास्त्र की संज्ञा वैशेषिक है।¹⁹ विशेष, सामान्य की अपेक्षा रखता है, अतः सामान्य और विशेष दोनों को पृथक्-पृथक् पढ़ा गया है।

यहां आचार्य गंगाधर राय यह प्रश्न भी उठाते हैं, कि सामान्य का उपदेश स्वतन्त्र रूप से किये जाने पर भी इस तन्त्र की संज्ञा वैशेषिक ही क्यों है, सामान्यक क्यों नहीं है? इसके उत्तर में वे स्वयं कहते हैं, कि शास्त्रों की संज्ञा शास्त्रकारों की विवक्षा से ही की जाती है अतः, चूकि ग्रन्थकार को वैशेषिक नाम देना ही अभीष्ट था

इसलिये ग्रन्थ की संज्ञा वैशेषिक है। इसी प्रकार, न्याय दर्शन (आन्वीक्षिकी शासन) में प्रमाण, संशय आदि का अन्तर्भाव प्रमेय में होने पर भी उपनिषद्वत् पन्द्रह पदार्थों का पृथक् वर्णन किया गया है, जो कि वादमार्ग ज्ञानार्थ आवश्यक था।

इस प्रकार सत्ता, समवाय आदि को स्पष्ट करने के बाद आचार्य गंगाधर 'सर्वदा' का अर्थ बताते हुए कहते हैं, कि 'सर्वदा' शब्द से नित्यग और आवस्थिक काल का ग्रहण होता है। नित्यग काल में सामान्य वृद्धि का कारण होता है, इसे स्पष्ट करते हुए वे उदाहरण देते हैं कि एक पल दुग्ध में एक पल जल मिला देने पर द्रवादि 'सामान्य' से परिमाणतः वृद्धि हो जाती है परन्तु, एक पल पारद में एक पल जल मिला दें तो वृद्धि नहीं हो सकती, जिसका कारण 'विशेष' है। यहां द्रवत्व आदि सामान्य को तीक्ष्णत्व और मृदुत्वादि (पारद के गुण) के द्वारा नष्ट कर दिये जाने के कारण अर्थात् विशेष के कारण वृद्धि नहीं हो पाती, इसलिये कहा गया है- 'विरुद्ध गुणसमवाये हि **'भूयसाल्पमवजीयते'**। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने हेतु गंगाधर जी मीमांसा दर्शन का उदाहरण देते हैं, कि जैमिनी ने भी कहा है- '**विरुद्धधर्मसमवाय भूयसां स्यात् सधर्मकत्वं**'

इसके पश्चात्, आवस्थिक काल में विशेष से ह्रास का उदाहरण समझाते हुए गंगाधर कहते हैं, कि आवस्थिक काल में भी श्लेष्मा के समान गुणों वाले दुग्ध का कणा (पिप्पली) एवं शुण्ठी आदि उष्ण द्रव्यों से संस्कार करने पर वह दुग्ध अवस्थान्तर को प्राप्त होकर कफ का ह्रास करता है। इस प्रकार उष्ण द्रव्यों से संस्कारित होने के कारण, कफ के समान गुणों से युक्त होते हुए भी वह कफ का वर्धन नहीं करता।

सामान्य वृद्धि का हेतु और विशेष ह्रास का हेतु किस प्रकार से होता है? इस प्रश्न को उठाते हुए गंगाधर जी इसका समाधान '**सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्**' से करते हैं। चरक के इस श्लोक का विवेचन आचार्य गंगाधर ने बहुत ही स्पष्ट परिभाषा देकर किया है, जो अग्रलिखित है :

- १ **यतः सर्वदा सर्वभावाणां सामान्यमेकत्वकरं मेलनेनैकीभावं करोति; तस्मात् तेषां वृद्धिकारणमिति।**
- २ **सर्वदा सर्वभावाणां विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्। पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता।**
- १ **सामान्य से वृद्धि** - 'एकत्व' का अर्थ है, मेल (संयोग) होने से एकीभाव हो जाना, अतः सामान्य नित्यग और आवस्थिक सभी कालों में, आपस में मिलने वाले भावों में एकीभाव उत्पन्न करता है, इसलिये वह वृद्धि का कारण होता है। उदाहरण स्वरूप, दुग्ध और जल में द्रवत्वादि सामान्य होने से वे मिलते हैं और मिलकर वृद्धि को प्राप्त होते हैं।
- २ **विशेष से ह्रास** - पारद और जल के मिलने से इस प्रकार का एकीभाव नहीं होता अतः वृद्धि भी नहीं होती और ऐसा '**विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्**' सिद्धान्त के कारण होता है। इस प्रकार सर्वदा, अर्थात् सभी कालों में, विशेष पृथक्त्व का कारण होता है। असंयोग के कारण उत्पन्न अनेकता या विलक्षणता ही 'पृथक्त्व' है। 'अयोग' होने से भावों का अनेकत्व होता है, एकत्व नहीं।

पारद और जल का द्रवत्व 'विशेष' होने से पृथक्त्व ही करता है, क्योंकि पारद एवं जल समान गुण वाले नहीं हैं।

सामान्य और विशेष क्या हैं? इस प्रश्न को उपस्थित करते हुए गंगाधर रॉय कहते हैं, 'तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः।'

सामान्य अनेक भावों में होता है। सामान्य कभी एक नहीं होता। समान 'सापेक्ष धर्म' होता है और वह अनेक भावों में 'स्ववृत्तित्वस्तुभाव' कहलाता है।

'तुल्यार्थ' में आये हुए 'अर्थ' शब्द से कारणभूत तथा कार्यभूत वस्तु के गुणधर्म का ग्रहण किया जाता है और जिसमें ये गुणधर्म समान होते हैं, उसे 'तुल्यार्थ' कहते हैं। इस प्रकार जो जिसके समान होता है, वह उसके साथ तुल्यार्थ होने से 'सामान्य' होता है।²² आचार्य गंगाधर ने यहां चार प्रकार के सामान्य को उदाहरण देकर समझाया है।

- 1 सभी पुरुषों में पुरुष घटक वस्तु (सत्त्व, आत्मा और शरीर) समान रूप से रहती है, अतः यह 'द्रव्यभूत सामान्य' है।
- 2 जो कृष्णवर्ण आदि गुण सभी में परिलक्षित होते हैं वह 'गुणभूत सामान्य' है।
- 3 जो गमनादि कर्म सभी में परिलक्षित होते हैं वह 'कर्मभूत सामान्य' है।
- 4 जो समवायात्मिका सत्ता निश्चित ही समान प्रसवात्मिका होती है वह 'समवायभूत सामान्य' है।²³

इस तरह सामान्य के चार भेद होते हैं तथा ये चारों सत्, नित्य, अद्रव्यवत् कार्यकारण रूप होते हैं।

सामान्य और विशेष की ही तरह द्रव्य, गुण और कर्म में 'अविशेष' की भी कल्पना आचार्य गंगाधर ने की है और इसे वे सामान्य पदार्थ ही मानते हुए कहते हैं, कि 'अविशेष' अतिरिक्त पदार्थ न होकर द्रव्य, गुण, कर्म और समवाय में ही अन्तर्भूत है।²³

आचार्य गंगाधर लौकिक और अलौकिक पदार्थों का प्रयोजन बताते हुए कहते हैं, कि वैशेषिक शास्त्र, आन्वीक्षिकी शास्त्र और आयुर्वेद शास्त्र में जिनका उपदेश किया गया है, वे लौकिक पदार्थ हैं। लोक में जो सामान्य और विशेष चिकित्सा में उपयोगी होते हैं उन्हीं सामान्य और विशेष को आयुर्वेद में क्रमशः 'वृद्धि-एकत्व' और 'ह्रास-पृथक्त्व' के हेतु के रूप में प्रतिपादित किया गया है।²⁴

वैशेषिक शास्त्र में निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये जो सामान्य और विशेष कहे गये हैं, उन्हीं के साधर्म्य और वैधर्म्य ज्ञान से तत्त्व ज्ञान प्राप्त होता है। सर्व-अन्तर्यामी ब्रह्म ही सामान्य है, यही तत्त्व है, और यह तत्त्व ज्ञान प्राप्त होना संभव नहीं है, क्योंकि विकृतांश को छोड़कर प्राकृतांश का ज्ञान प्राप्त करना ही तत्त्व ज्ञान है। और वह ब्रह्मा में नहीं होता है। इसलिये अलौकिक पदार्थ का अभिधान नहीं किया गया है। यहां जो लौकिक सामान्य और विशेष कहे गये हैं, वे द्रव्य, गुण, कर्म और समवाय में अन्तर्भूत रहते हैं। आयुर्वेद में अनुपयोगी होने से और वैशेषिक में निष्प्रयोजन होने से अलौकिक सामान्य-विशेष नहीं कहे

गये हैं। इसके साथ ही निष्प्रयोजन होने के कारण आहंकारिक इन्द्रियां, अहंकार, महान् तथा अव्यक्त में रहने वाले सत्त्वादि त्रिगुण भी यहां नहीं कहे गये हैं। इस प्रकार लोक में छः ही पदार्थ हैं अथवा सोलह पदार्थ ही हैं, ऐसा नियम नहीं है।

आयुर्वेद के धातुसाम्य रूप प्रयोजन तथा वैशेषिक के निःश्रेयस की प्राप्ति रूप प्रयोजन की सिद्धि, षड् पदार्थ के ज्ञान से ही होती है। इसी प्रकार, षोडश पदार्थ के ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति रूप प्रयोजन सिद्ध होता है। यही कारण है कि आयुर्वेद, वैशेषिक एवं आन्वीक्षिकी शास्त्रों में शेष पदार्थ नहीं कहे गये हैं और उनका प्रतिषेध भी नहीं किया गया है। इस प्रकार कपिल (सांख्य शास्त्र) के वचनों का भी विरोध नहीं होता है। उनके अनुसार, 'सामान्यविशेषवत्' शब्द से द्रव्य, गुण और कर्म के एकत्व का प्रतिषेध है, अर्थात् न द्रव्य एकविध होता है, न गुण एकविध है और न कर्म एकविध है। इस प्रकार नौ द्रव्य, सत्रह गुण और पंचविध कर्म को यहां स्वीकार किया गया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

जैसा कि पूर्व में वर्णित है, 'दर्शन' वह है जो यथार्थ तत्त्व का ज्ञान कराता है। यथार्थ तत्त्व के ज्ञान से मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है और बुद्धि प्रकाशित हो जाती है। आत्मा निर्विकार है, वह चैतन्य स्वरूप है, त्रिगुणात्मक प्रकृति के सम्पर्क में आने पर पूर्व जन्मकृत कर्मों के आधार पर सुख, दुःखादि को अनुभव करता है। वास्तव में आत्मा, जब शरीर, सत्त्व आदि से संयुक्त होता है, तभी वह चैतन्य में कारण होता है। आत्मा दृष्टा है, और इसी अवस्था में वह सुख, दुःखादि का भोग करता है। आत्मा ही दृष्टा है, आत्मा ही ज्ञाता है। दर्शनों की प्रवृत्ति आत्मा/पुरुष के स्वरूप के ज्ञान के लिये ही होती है। जब आत्मा को अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब वह भोक्ता नहीं रह जाता, केवल दृष्टा मात्र ही रह जाता है। उसका शरीर एवं संसार से उत्पन्न अहंकार समाप्त हो जाता है। यही स्थिति दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति की स्थिति है। आचार्य गंगाधर ने जल्पकल्पतरु टीका में दार्शनिक सिद्धान्तों का जो विस्तृत एवं विशद विवेचन किया है, उसका उद्देश्य भी यही है - 'दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति।' सम्पूर्ण टीका में उनका यह प्रयत्न रहा है, कि वे दर्शन सिद्धान्त, जो सामान्य बुद्धि द्वारा गम्य नहीं हैं, उदाहरणों के द्वारा उनका स्पष्टीकरण कर उन्हें बुद्धिगम्य बना देना। यही कारण है, कि विविध दर्शनों के अध्येता भी, दर्शनों को भलीभांति समझने हेतु आचार्य गंगाधर की इस टीका का सहारा लेते हैं।

आयुर्वेद शास्त्र एक चिकित्सा-शास्त्र है। इसका प्रयोजन स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा आतुर के विकार का प्रशमन करना है। इस प्रकार इसकी प्रवृत्ति स्वास्थ्य के परिपालन एवं उसकी प्राप्ति हेतु होती है। परन्तु चूंकि आयुर्वेद के अनुसार 'स्वस्थ मनुष्य' की परिभाषा 'समदोषः' से प्रारम्भ होकर 'प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः' तक जाती है, अतः इस विस्तृत उद्देश्य की पूर्ति मात्र युक्तिव्यपाश्रय, दैवव्यपाश्रय तथा सत्त्वाजय चिकित्सा से ही कदापि सम्भव नहीं हो सकती। इसी हेतु से आयुर्वेद शास्त्र में दार्शनिक सिद्धान्तों की अपार निधि को सम्मिलित किया गया है। आचार्य गंगाधर आयुर्वेद के इस उद्देश्य से भली-भांति परिचित थे। अतएव उन्होंने चरक संहिता की टीका करते समय इन दार्शनिक सिद्धान्तों पर पूर्ण ध्यान दिया एवं आगे के अध्येताओं के लिये इस निधि को प्राप्त करने हेतु, अपनी टीका

द्वारा समस्त मार्ग खोल दिये। आचार्य गंगाधर ने स्वयं इसे अपनी टीका में निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है -

**जलकल्पतरुरेष निर्मितः कल्पयत्यभिचिन्तत फलम् ।
जल्पितो हि सुधिया सुधीगणैर्लभ्यमप्यमलं रसोत्तमम् ॥^{२६}**

‘आचार्य कविराज जी द्वारा निर्मित यह **जलकल्पतरु टीका** रूपी ‘कल्पतरु’ (वृक्ष) चिन्तन के अनुसार फल प्रदान करने वाला है अर्थात् जो दीर्घ एवं स्वस्थ आयु का चिन्तन अथवा कामना करते हुए इसका अध्ययन करे, उसे दीर्घ एवं स्वस्थ आयु रूपी फल प्रदान करने वाला, तथा जो दार्शनिक ज्ञान हेतु अध्ययन करे, उसे दर्शन ज्ञान कराने वाला तथा जो आयुर्वेद के ज्ञान हेतु अध्ययन करे, उसे आयुर्वेद का ज्ञान कराने वाला है। यह दृष्टव्य भी है, कि विद्वत्-जनों द्वारा बुद्धि पूर्वक जल्पित (कथन / अध्ययन) किये जाने पर पर्याप्त रस से परिपूर्ण फल प्राप्त किया भी गया है।’

आचार्य गंगाधर मिथ्याज्ञान के नाश से तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति और तत्पश्चात् अपवर्ग की प्राप्ति किस प्रकार होती है, इसे प्रकाशित करते हुए कहते हैं -

बन्धो हि पुरुषस्य.....स च ज्ञान प्रकाशः ।

तस्मादपवर्गो भवतीति पुरुष..... ॥^{२७}

विश्व की समस्त चिकित्सा पद्धतियाँ ऐहिक दुःख की निवृत्ति का प्रयास कर रही हैं। यह आयुर्वेद ही है, जो दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति की बात करता है, और उसकी प्राप्ति हेतु दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है।

पूर्व में विवेचित सामान्य-विशेष के प्रकरण से यह सहज ही स्पष्ट है, कि आचार्य गंगाधर रॉय ने ‘जलकल्पतरु’ में सामान्य-विशेष का वर्णन दार्शनिक आधार एवं आयुर्वेद में उपयुक्तता दोनों का समावेश करते हुए किया है, जबकि आचार्य चक्रपाणि स्पष्टतः कहते हैं, कि ग्रन्थविस्तार के भय से यहां सामान्य-विशेष वाद के आयुर्वेदोपयुक्त धर्म मात्र कहे गये हैं। विस्तार हेतु वैशेषिक दर्शन से ज्ञान प्राप्त किये जाने का निर्देश भी चक्रपाणि करते हैं। सम्भवतः चक्रपाणि के उक्त कथन के बाद आचार्य गंगाधर ने १९वीं शताब्दी में सामान्य-विशेष वाद के वैशेषिकोक्त दार्शनिक तत्त्वों को महत्त्वपूर्ण समझा और अपनी टीका में उन्हें विस्तार से समाविष्ट किया।

वे षड् पदार्थ के दर्शन ज्ञान हेतु, निश्चयात्मक ज्ञान अथवा संदेह रहित ज्ञान रूपी चक्षु की अनिवार्यता को वर्णित करते हैं। षड् पदार्थों में सामान्य और विशेष के प्रथम उपदेश का कारण वे आयुर्वेद के दोनों प्रयोजनों की सिद्धि में इन्हीं की सर्वाधिक उपयोगिता का होना बताते हैं। ‘सर्वदा’ की नित्यग एवं आवस्थिक काल के रूप में उदाहरण सहित व्याख्या, ‘भाव’ की सत्ता अर्थ में व्याख्या कर, उसके द्वारा द्रव्य, गुण और कर्म के ग्रहण का निर्देश तथा सामान्य वृद्धि में और विशेष ह्रास में कारण किस प्रकार से होता है? इसके लिये ‘सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तुपृथक्त्वकृत’ की उदाहरण सहित व्याख्या करने के बाद सामान्य और विशेष क्या है? इस प्रश्न के उत्तर के रूप में ‘तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्थयः’ की व्याख्या दृष्टव्य है। आचार्य गंगाधर ने सामान्य के चार भेद बताये हैं- द्रव्यभूत सामान्य, गुणभूत सामान्य, कर्मभूत सामान्य तथा समवायभूत सामान्य। इसके साथ ही वे यह भी

स्पष्ट करते हैं, कि वैशेषिक शास्त्र में जो सामान्य और विशेष निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये वर्णित हैं, वे अलौकिक सामान्य-विशेष हैं, जबकि लौकिक सामान्य विशेष वे हैं, जो क्रमशः ‘वृद्धि-एकत्व’ तथा ह्रास-पृथक्त्व’ के द्वारा चिकित्सा में उपयोगी होते हैं। आयुर्वेद शास्त्र में लौकिक पदार्थों का उपदेश किया गया है। इस प्रकार आचार्य गंगाधर का विवेचन दार्शनिक तत्त्वों के चिकित्सा में सामञ्जस्य को स्पष्ट करने में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है।

आचार्य गंगाधर आयुर्वेद मर्मज्ञ होते हुए भी हृदय से एक दार्शनिक व्यक्ति थे तथा आयुर्वेद पर असाधारण अधिकार होने के साथ-साथ उनका दर्शन ग्रन्थों पर भी पूर्ण अधिकार था। आचार्य गंगाधर ने दार्शनिक तत्त्वों के ज्ञान का चिकित्सा के साथ सामञ्जस्य स्थापित करते हुए आरोग्य की प्राप्ति से मोक्ष की प्राप्ति तक का विधान अपनी व्याख्या के माध्यम से प्रस्तुत कर दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का मार्ग प्रकाशित किया है।

कविराज गंगाधर कृत जल्पकल्पतरु टीका निश्चित ही युगानुरूपिणी, परिमार्जित एवं वैशिष्ट्य युक्त है तथा इसका अध्ययन आयुर्वेद के विद्वानों एवं अध्येताओं के लिये आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है। वस्तुतः यह टीका एक उत्कृष्ट ग्रन्थ स्वरूप है, जिसमें आयुर्वेद के गूढ़ प्रश्न विवेचित हैं, आयुर्वेद के क्षेत्र में अनुसन्धानेच्छुक अध्येता के लिये यह जल्पकल्पतरु टीका रत्नगर्भाधारित है, जिसके उत्खनन से अनेक शास्त्रों के तथ्यपरक रत्न प्राप्त किये जा सकते हैं।

(क्रमशः)

सन्दर्भ ग्रन्थ

- १ माधवाचार्य, सर्वदर्शन संग्रह, उमाशंकर शर्मा ‘ऋषि’ द्वारा सम्पादित, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६४.
- २ कणाद, वैशेषिक दर्शन प्रशस्तपादभाष्य सहित, ढुण्डिराज शास्त्री द्वारा सम्पादित, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, तृतीय सं., १९९८, सूत्र १/१/१.
- ३ गौतम, न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य सहित, ढुण्डिराज शास्त्री द्वारा सम्पादित, चौखम्भा संस्कृतसंस्थान, वाराणसी, चतुर्थ सं., १९९०, सूत्र १/१/१.
- ४ ईश्वरचन्द्र, सांख्यकारिका, एस सूर्यनारायण शास्त्री द्वारा सम्पादित, मद्रास विश्वविद्यालय, १९३३, कारिका ३.
- ५ सांख्यकारिका, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र ४), कारिका ३.
- ६ सर्वदर्शन संग्रह, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. १).
- ७ अग्निवेश, चरक संहिता, पं काशीनाथ पाण्डेय, डा गोरखनाथ चतुर्वेदी कृत ‘विद्योतनी’ हिन्दी व्याख्या, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, भाग १, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००५, सूत्र स्थान १/६-७.
- ८ अग्निवेश, चरक संहिता, चक्रपाणि व्याख्या सहित, यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा सम्पादित, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००५, सूत्र स्थान १/२८ पर चक्रपाणि.
- ९ अग्निवेश, चरक संहिता, आयुर्वेददीपिका तथा जल्पकल्पतरु टीका संवलिता, कविराज नरेन्द्रनाथ सेन गुप्त तथा कविराज श्री बलाइचन्द्र सेन गुप्त द्वारा सम्पादित, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान नई दिल्ली, भाग १, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००२, सूत्र स्थान १/९ पर गंगाधर पृ. क्र. २३.

- १० चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/९ पर गंगाधर पृ. क्र. २४.
- ११ वैशेषिक दर्शन, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. १), सूत्र १/२/७-१०.
- १२ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ. क्र. ३६.
- १३ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ. क्र. ३७.
- १४ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ. क्र. ३७.
- १५ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ. क्र. ३७.
- १६ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ. क्र. ३७.
- १७ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ. क्र. ३७.
- १८ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ. क्र. ३८.
- १९ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ. क्र. ३८.
- २० चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ. क्र. ३९.
- २१ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ. क्र. ३९.
- २२ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ. क्र. ४०.
- २३ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ. क्र. ४१.
- २४ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ. क्र. ४१.
- २५ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ. क्र. ४३.
- २६ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), मंगलाचरण से उद्धृत.
- २७ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ९), सूत्र स्थान १/९ पर गंगाधर पृ. क्र. २४.

The Critical Study of Philosophical Aspects of “Jalpakalpataru Teeka” with special reference to “Samanya-Vishesh Vad” (Part-I)

O. P. UPADHYAYA * RITU SONI **

National Institute of Ayurveda, Jaipur (Raj.)

ABSTRACT : Ayurveda is eternal. The time, when all other civilization of the world was passing their childhood, the Indian civilization was attaining its highest altitude of knowledge. The Vedas are direct evidence of this, as there is no other literature in this world, that is more ancient than Vedas. Ayurveda is the integral part of Atharva Veda. Ayurveda is a treasure philosophical aspect. In every Ayurvedic Samhita there is parallel description of philosophical aspects with medical discussion. Therefore the question arises in mind that, is there any importance of these philosophical aspects in the field of treatment of diseases? If there is some importance then what is that? And, how it can be proved according to the present era? The Charaka Samhita is mainly a Medical text. The presence of Philosophy in this text, itself proves the importance of philosophy in the field of medicine, but there is need, to be explained, according to the present era. The widely accepted commentary on Charaka Samhita in the present time is, ‘Ayurveda Dipika’ written by ‘Chakrapani’. Its time goes back to app. 1075 AD and there is an approximate time difference of 1000 years between Charaka and Chakrapani. After that, since twelve to nineteenth century, no authentic sanskrit commentary on Charaka Samhita is available. Again, in 19th century, the ‘Jalpakalpataru Teeka’ written by Kaviraj Gangadhar Rai, comes, which is the last Sanskrit commentary on Charaka Samhita at present. In this commentary, there is a deep discussion of Philosophical Subjects. There is a time difference of approximate 800 years between Chakrapani and Gangadhar Rai. The aim of this literary research is to find out the differences or specialities created or transferred, according to the era, especially in the Philosophical aspects, because of such a long time interval between Charaka and Chakrapani, and again between Chakrapani and Gangadhar Rai, and also, to discuss their importance in the field of medicine. The present study emphasize on the specialities of the ‘Jalpakalpataru Teeka’ in comparison with the ‘Ayurveda-Deepika Teeka’ on ‘Samanya-vishesh Vad’.

Key words : Charaka Samhita, Acharya Gangadhar, Philosophical Aspects, Samanya-Vishesh Vad.

